क्या सामाजिक अध्ययन सिर्फ़ रटने का विषय है ?

इस संवाद में सामाजिक अध्ययन शिक्षण से जुड़े विभिन्न मुद्दे सामने आए। बातचीत में ज़ोर किया गया कि यह याद करने का विषय नहीं है। कुछ ऐतिहासिक कारणों और मौजूदा परीक्षा प्रणाली की वजह से यह धारणा बन गई है, लेकिन इस धारणा से जूझने की ज़रूरत है। यह भी सामने आया कि सामाजिक अध्ययन में कई मुद्दे काफ़ी जटिल होते हैं, लेकिन विवेकशील और आलोचनात्मक चिन्तन विकसित करने, विवेकशील नागरिक बनाने के लिए इन मुद्दों पर कक्षा में चर्चा होनी ज़रूरी है। इस संवाद में शामिल थे– अरविंद सरदाना, एकलव्य, भोपाल से; नवीन और दीपक कुमार राय, अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन से; महेश पुनेठा, उत्तराखंड से और नरेन्द्र परबत, छत्तीसगढ़ से। सं.

रजनी : यह एक आम धारणा है कि सामाजिक अध्ययन, जिसमें इतिहास, राजनीतिशास्त्र, भूगोल, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र आदि शामिल हैं, एक रटने वाला विषय है। यह भी कि इसमें बस पढ़ना और याद करना है, कुछ ख़ास समझने के लिए नहीं है।

नवीन : सामाजिक अध्ययन बहुत-सी जानकारियों और सूचनाओं पर आधारित है, लेकिन यह उन जानकारियों और सूचनाओं से आगे बढ़कर विश्लेषण की माँग करता है, लेकिन कक्षाओं में विश्लेषण के कौशल पर काम बिलकुल नहीं होता है। मुझे इसके बहुत-से ऐतिहासिक कारण भी लगते हैं। ऐतिहासिक कारण यह है कि सामाजिक अध्ययन विषय को शुरुआत में नेशन बिल्डिंग के साधन के रूप में समझा गया। इसमें सभी नागरिकों को प्रशिक्षित करने की बात कुछ ज़्यादा हावी थी। यूरोप के सन्दर्भ में भी सिटीज़नशिप एजुकेशन की संरचना इसी से निकलकर आई कि नागरिक को मूल्यों के आधार पर शिक्षित करना है। शुरुआत में इसीलिए याद करने पर ज़ोर था क्योंकि विद्यार्थियों को यह बताना था कि सूचनाएँ एक जैसी हैं, उन्हें ज़्यादा सोचने नहीं देना था, उन्हें प्रश्न नहीं करने देना था। सामाजिक अध्ययन को स्कूल में जिस नज़रिए से लाया गया, आज भी उस नज़रिए से हम पूरी तरह से मुक्त नहीं हो पाए हैं जिसके कारण कक्षा में सूचनाओं अम्बार रहता है।

दूसरा नज़रिया शिक्षकों को लेकर है। हमारे स्कूलों में जो शिक्षक सामाजिक अध्ययन पढ़ाते हैं वो उस रूप में प्रशिक्षित नहीं हैं। उन्होंने अपने स्कूल के दौर में इस विषय को जैसे पढ़ा, वो उसको उसी रूप में लेते हैं। वे समझते हैं कि यह विषय याद करने के लिए ही है, और सूचनाओं को याद करके लिख लेना ही महत्त्वपूर्ण होता है। इसलिए कई बार स्कूलों में किसी भी शिक्षक से इस विषय को पढ़ाने के लिए कह दिया जाता है। हाल ही में, मैंने कई स्कूलों में देखा कि पीटीआई शिक्षक सामाजिक अध्ययन पढ़ा रहे हैं। वे कुछ पैराग्राफ़ बच्चों को पढ़ने को देते हैं, कुछ पंक्तियाँ जोड़ते हैं, नहीं तो आगे बढ़ जाते हैं और प्रश्नोत्तर करा देते हैं।

रजनी : महेशजी, आप अपनी बात रखें।

महेश : मैं नवीनजी से सहमत हूँ। मुझे लगता है कि रटना दरअसल इस एक विषय तक ही सीमित नहीं है। हमारी पूरी शिक्षा पद्धति ही परीक्षा-केन्द्रित हो गई है। परीक्षाओं का पूरा ढाँचा केवल रटने की क्षमताओं के मूल्यांकन तक सीमित हो गया है और सामाजिक अध्ययन भी इससे अछूता नहीं है। किस बच्चे को कितनी जानकारी, सूचनाएँ व तथ्य याद हैं, सिर्फ़ यही जानने के लिए ही परीक्षा होती है। इसके चलते पढ़ाने वाले कक्षा में वही चीज़ें पढ़ाते हैं जो परीक्षा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होती हैं। एक बात और, केवल शिक्षकों को ही नहीं बल्कि शिक्षा से जुड़े अधिकारियों, अभिभावकों, आदि किसी को भी अब तक ये समझ में नहीं आया कि सामाजिक अध्ययन पढ़ाने का मुख्य उद्देश्य क्या है? क्यों सामाजिक अध्ययन को पाठ्यचर्या में शामिल किया गया है? आख़िर इसकी दक्षताएँ क्या निर्धारित की गई हैं? क्या मूल्य निर्धारित किए गए हैं? सभी लोग यही मानते हैं कि सामाजिक अध्ययन इसलिए पढ़ाया जाना चाहिए क्योंकि प्रतियोगी परीक्षाओं में सामाजिक अध्ययन से सम्बन्धित प्रश्न पूछे जाते हैं। जिस आलोचनात्मक विवेक के बारे में हम बात कर रहे हैं, उसका परीक्षण किया ही नहीं जाता है। मैं समझता हूँ कि एक समाज, एक ज़िम्मेदार नागरिक के मूल्य इस विषय के द्वारा विकसित होने चाहिए थे। मेरा मानना है कि संवेदना, समझदारी और ज़िम्मेदारी, इन तीनों मूल्यों को हम आने वाली पीढ़ी के अन्दर पैदा कर सकें इसलिए इस विषय को शामिल किया गया है।

रजनी : अरविंदजी, इतिहास, भूगोल, नागरिकशास्त्र, इन सबको हम सामाजिक अध्ययन कहते हैं। इन विभिन्न विषयों में क्या सिमिलैरिटी है और क्या बुनियादी फ़र्क़ है?

अरविंद : अभी जो बातें हुई हैं, पहले दो-चार चीज़ें उनपर कहना चाहूँगा। दो-तीन तरह के द्वन्द्व हैं। एक द्वन्द्व है कि हम इस विषय को नेशन बिल्डिंग के लिए पढ़ाते हैं। दूसरा, इससे संवेदना, ज़िम्मेदारी, माने अच्छे नागरिक, के मूल्य विकसित होते हैं। सामाजिक अध्ययन से आप बहुत कुछ संवेदना और ज़िम्मेदारी की बातें ला सकते हैं, समझा सकते हैं, पर उनको इसका तंत्र मानना या नैतिक शिक्षा का स्वरूप मानना, ये हमारे स्कूली पाठ्यक्रम की एक खाई है। हम सब जानते हैं कि नैतिक शिक्षा किसी भी पाठ्यचर्या से न आकर व्यवहार से ही ज़्यादा आती है। यदि इसे नैतिक शिक्षा मानेंगे तो इसमें केवल अच्छी बातें करना चाहेंगे। इसमें आलोचना या विश्लेषण शामिल करना नहीं चाहेंगे। इस प्रकार, कक्षा में किसी भी तरह की आलोचना, द्वन्द्व या कोंफ़्लिक्ट सब हट जाएँगे। अतः इसपर थोड़ा ध्यान देने की ज़रूरत है। दूसरी बात है कि उन्होंने सही कहा कि परीक्षा का एक तरह का ढर्रा बन गया है। सभी लोग सोचते हैं कि परीक्षा जनरल नॉलेज का विषय है, और उसमें सूचनाएँ ही पूछी जाएँगी। और आगे चलकर यह फ़ायदेमन्द भी होगा। इसलिए इस विषय को जनरल नॉलेज की एक गाइड मान लिया जाता है, और पूरी परीक्षा प्रणाली इसपर टिकी हुई है।

लड़के और लड़की में भेदभाव

समाज में लड़के और लड़कियों में कई तरह से भेदभाव किया जाता है। हम सभी इस भेदभाव से परिचित हैं। एक लड़का या लड़की होने का अर्थ क्या होता है? आपमें से कई लोग कहेंगे, "हम लड़के या लड़की की तरह जन्म लेते हैं। यह तो ऐसे ही होता है। इसमें सोचने वाली क्या बात है?" आइए, देखें कि क्या सच्चाई यही है?

नीचे दिए गए कथनों की सूची में से तालिका को भरिए। अपने उत्तर के कारणों पर चर्चा कीजिए।

वे बहुत ही सुशील हैं।
उनका बात करने का तरीका बड़ा सौम्य और मधुर है।
वे शारीरिक रूप से बलिष्ठ हैं।



चित्र 1

लेकिन हर विषय की अपनी अवधारणा होती है। इतिहास, भूगोल, नागरिकशास्त्र, सभी का अपना एक इतिहास है, अपना एक तरीक़ा है, लेकिन इस बारे में बात नहीं होती है।

नवीन : कुछ उदाहरण साझा करना चाहूँगा। राज्य स्तर पर जब सामाजिक अध्ययन का पाठ्यक्रम बन रहा था, मैं भी उस फ़ोकस समूह में था। उसमें राज्यभर से चयनित शिक्षक आए थे। इस समूह की एक शिक्षिका का कहना था कि एनसीईआरटी की कक्षा 6 की पाठ्यपुस्तक में 'विविधता और भेदभाव' पाठ में दी गई अम्बेडकर की कहानी बहुत ही विवादास्पद है। उन्होंने कहा कि वे उसे कभी नहीं पढ़ातीं, क्योंकि इसे पढ़ाना कक्षा के वातावरण को ख़राब कर देता है। माने बच्चों के बीच बातचीत हो, उनको विश्लेषण के मौक़े मिलें, ऐसा हम नहीं चाहते। सोच यही है कि नैतिक मूल्य पढ़ा दें, लेकिन बराबरी और भेदभाव की बात से बचें। हाल ही का एक और अवलोकन है। हर साल हमारे यहाँ विश्वविद्यालय के विद्यार्थी कक्षा अनुभव के लिए आते हैं। अभी हाल ही में भी वे आए और पढ़ा रहे थे। उन्होंने जातिगत भेदभाव के मुद्दे पर बच्चों से चर्चा की और कुछ गतिविधियाँ कीं। बच्चों के साथ हुई इस चर्चा से पूरा स्कूल सिस्टम हिल गया। काना-फूसी हुई और शिक्षकों ने विश्वविद्यालय के इन विद्यार्थियों को इस तरह के मुद्दों पर कक्षा में बातचीत करने से मना कर दिया। उनका कहना था कि इन मुद्दों पर चर्चा करना हम उचित नहीं समझते, क्योंकि इनसे सामाजिक वैमनस्य फैलता है। और वैसे भी हम 'जात-पात' को नहीं मानते। यह हमारे समाज में मौजूद चुनौतियों से मुँह चुराना है। इस तरह की चुनौतियाँ भी ज़मीनी स्तर पर काफ़ी दिखाई देती हैं। शिक्षक अपनी ही पाठ्यचर्या शुरू कर देते हैं, और आगे बढ़ने की प्रक्रिया को रोक देते हैं।

विविधता एवं भेदभाव

पिछले पाठ में आपने विविधता के बारे में पढ़ा। कई बार जो लोग दूसरों से अलग होते हैं उन्हें चिढ़ाया जाता है, उनका मज़ाक उड़ाया जाता है या फिर उन्हें कई गतिविधियों या समूहों में शामिल नहीं किया जाता। अगर हमारे दोस्त या दूसरे लोग हमारे साथ ऐसा व्यवहार करें तो हमें दुख होता है, गुस्सा आता है और हम असहाय महसूस करते हैं। क्या आपने कभी सोचा है कि ऐसा क्यों होता है?

इस पाठ में हम यह समझने की कोशिश करेंगे कि ऐसे अनुभव हमारे समाज से और हमारे आस-पास मौजूद असमानताओं से कैसे जुड़े हुए हैं।



चित्र 2

नरेन्द्र : जो बात रखी गई है, उसी सन्दर्भ में एक घटना बताना चाहूँगा। हमारे एक बड़े अधिकारी ने एक बैठक में कहा कि कला के विषय, मैं किसी से भी पढ़वा लूँगा। मैंने सवाल किया था कि ऐसा कैसे हो सकता है कि अर्थशास्त्र वाला भूगोल की प्रकृति को समझ जाए और भूगोल वाला अर्थशास्त्र की। इतिहास और राजनीति तो ख़ैर फिर भी जुड़ते हैं। लेकिन बाक़ी सबकी प्रकृति अलग है। उन्होंने कहा, ये कोई बड़ी बात नहीं है। इन विषयों में जो तथ्य दिए होते हैं उनकी व्याख्या कोई भी कर लेगा। कई स्कूलों की विजिट में भी यह समस्या दिखी। छत्तीसगढ़ में 9वीं और 10वीं की पाठ्यपुस्तक बनाते वक़्त रोज़ अनुभव होने वाले कई ज्वलन्त मसलों को पाठ्यपुस्तक में शामिल किया था, लेकिन कक्षाओं में उन सवालों का बिलकुल भी ज़िक्र नहीं होता है। मसलन, इतिहास में था कि क्या बिना ईश्वर को माने

धर्म माना जा सकता है? इसपर कोई भी शिक्षक अपने बच्चों के साथ बात करते ही नहीं हैं। वैसे इसको बच्चों के बीच में लेकर कैसे जाएँ, यह दुविधा भी है। हायर सेकेण्ड्री स्तर पर भी यही स्थिति है। अकसर हम अपनी कक्षाओं में बच्चों के साथ में कोई ज़िरह ही नहीं करते, बस जो टेक्स्ट बुक में लिखा होता है वह बता देते हैं। उसके न आगे, न पीछे, क्योंकि शिक्षक की भी यह समझ नहीं होती कि अगर मुझे बात करनी है तो कौन-से बिन्दु से करनी है। हमारी पाठ्यपुस्तक में एक पाठ है 'आर्थिक क्रियाओं की समझ'। उसमें महिलाओं द्वारा किए जाने वाले कार्यों पर एक गतिविधि है। आपके घर में चौबीस घण्टों में कितने काम किए गए हैं, और उसमें महिलाएँ कितने काम करती हैं और पुरुष कितने, उसको लिखकर लाना है। लेकिन ज़्यादातर शिक्षक ये बोलते हैं कि इसकी ज़रूरत ही क्या है? पाठ पढ़ाओ और प्रश्न कराओ। यह कैसे बदले, मुझे एक बड़ी चुनौती यह भी लगती है।



चित्र 3

अरविंद : हमारे समाज में और शिक्षकों में इस विषय को लेकर एक तरह का मेंटल मेकअप बन गया है। मसलन, इसको कोई भी पढ़ा सकता है और इसमें ज़्यादातर सूचनाएँ हैं। हम समझ रहे हैं कि ये चीज़ें एकदम से नहीं बदलेंगी, और यह भी कि केवल टेक्स्ट बुक बनाने से बात नहीं बनती है। जब तक शिक्षकों से वार्तालाप नहीं हो, तब तक इन मुद्दों को टेकल नहीं कर पाएँगे। दूसरा, सरकार बदलेगी और फिर बदलाव होगा, तो कहीं ऊपर से बदलाव आने वाला है ऐसा भी मुझे नहीं लगता। नवीनजी ने तीखे उदाहरण दिए। इनको सामाजिक अध्ययन में Issues of Conflict कहते हैं। ये मुश्किल सवाल है कि जाति के बारे में चर्चा कैसे करें? यह आसान नहीं है। एक दूसरी सरल अवधारणा लेता हूँ। ऐसे लोग हैं जो खेती नहीं करते हैं, जंगलों में रहते हैं, अकसर उनको हम पिछड़ा कह देते हैं और हम मॉडर्न व शहरी हो गए हैं। खेतिहर समाज से और मॉडर्न हो जाना, ऐसे मुद्दों को चैलेंज करना ही इतिहास का काम है। इतिहास ही बताता है कि क्या बदला और क्या नहीं और उस बदलने के पीछे क्या कारण थे। पर इतिहास यह नहीं बताता कि खेतिहर समाज में रहने वाला कम बुद्धिमान है और शहरी समाज में रहकर अधिक पढ़ा-लिखा, कम्प्यूटर चलाने वाला ज़्यादा बुद्धिमान। इतिहास ये वैल्यू हमपर नहीं लगाता। जैसा नवीनजी ने बताया, विविधता का अध्याय सभी पढ़ा देते हैं, पर विविधता और भेदभाव पढ़ाने में संकोच होता है क्योंकि हर तरह की विविधता को भेदभाव कहना, और एक ख़ास तरह के भेदभाव को विविधता कहना ग़लत हो जाएगा। मेरा मानना है कि इस विषय और कक्षा में इसके शिक्षण को लेकर शिक्षक से जितना संवाद होगा तभी कुछ परिवर्तन हमें दिखेगा। पाठ्यपुस्तक मदद कर सकती है मगर उसकी भी सीमाएँ हैं।

नरेन्द्र : मैंने पाया है कि कक्षा में बच्चों से जब जाति या किसी तरह के भेदभाव पर बात की जाती है तो वे अपनी प्रतिक्रियाएँ देते हैं। ऐसा इसलिए, क्योंकि वो अपने समाज में ऐसी चीज़ देख रहे हैं। पाठ्यपुस्तक को साथ में रखते हुए जब हम जाति व्यवस्था की बात करते हैं तो

इस तरह के उदाहरण आते हैं कि तालाबों पर हर जाति के अलग घाट बने हुए होते हैं। बच्चे ये जानते हैं। वे बहुत सारी चीज़ें अपने समाज से सीखकर आ रहे हैं और उनसे इन चीज़ों पर बात करने पर वे प्रतिक्रिया देते हैं। साथ ही, उनके अन्दर अलग-अलग जातियों, धर्म, आदि को लेकर जो एक द्वन्द्व चल रहा होता है, वह भी कुछ साफ़ होता है। पता नहीं हम क्यों इन मुद्दों पर बातचीत करने में भयभीत हो जाते हैं।

अरविंद : नरेन्द्रजी सही कह रहे हैं। विज्ञान में हम कहते हैं कि ये प्रयोग करो और बताओ, परिणाम क्या आया और क्या चीज़ें हुईं? सामाजिक अध्ययन में केस स्टडी करना, बच्चों द्वारा पूछे गए प्रश्नों, अवलोकित किए गए मुद्दों पर चर्चा, यही प्रयोग हैं। पाठ में लिखे पर चर्चा जिसमें बच्चे अलग-अलग मत व्यक्त कर पा रहे हैं और एक दिशा ले रहे हैं, यह भी प्रयोग है। यही उसकी अन्तःक्रिया है और अवधारणा सीखने का तरीक़ा भी। यह कहना बिलकुल लाज़िमी है कि सामाजिक अध्ययन शिक्षण के मूल में यही प्रक्रिया होनी चाहिए। जैसे, आपने कक्षा में समानता के बारे में बात की। समता, समानता किसको मानेंगे, किसको नहीं मानेंगे, इसपर चर्चा करें। ये मत बताइए कि संविधान यही बोलता है। संविधान का बोझ नहीं रखिए, खुली चर्चा करिए। बच्चे कहते हैं कि हमको समान व्यवहार करना चाहिए, और बताएँगे भी कि कहाँ असमान व्यवहार हो रहा है। यह भी समझने का मौक़ा देना कि हम समानता चाहते हैं, और कई बार हम ही उसका विरोध भी कर देते हैं, ये द्वन्द्व वो भी समझ पाएँ।



क्या मैडम लिंगदोह की कक्षा में भी हम इन्हीं निष्कर्षों पर पहुँचे थे? मुझे वह कक्षा इसलिए बहुत पसंद आई क्योंकि बच्चों को बने-बनाए निष्कर्ष नहीं बता दिए गए थे।

चित्र 4

पाठ्यपुस्तक में लिखी बातों का विश्लेषण करना और उनपर चर्चा करना, गाँव से, समुदाय से जो बातें आ रही हैं उनका प्रमाण रखना, और वो बेहिचक सवाल पूछ पाए, चाहे वह आपकी बात से सहमत हो या नहीं, यही इस विषय की जान है।

महेश : पाठ्यपुस्तकें अच्छी हैं लेकिन उनका इस्तेमाल किस तरीक़े से करना है, यह शिक्षकों को न तो बताया गया है और न ही संवेदित किया गया है। दूसरा सवाल है, शिक्षकों के पूर्वाग्रह का। जाति या लिंग या फिर धर्म के मसलों पर बातचीत तभी सम्भव होगी जब स्वयं शिक्षक इन मूल्यों के प्रति संवेदनशील हों और उनकी ख़ुद की पूर्व धारणाएँ इन मूल्यों पर हावी न हों। संवैधानिक मूल्यों को लेकर शिक्षक सहमत नहीं होते हैं बल्कि समानता, स्वतंत्रता, बन्धुत्व, और पारस्परिक विश्वास को लेकर बच्चे कहते हैं कि नहीं, ये स्त्री-पुरुष के बीच जो भेद है वो नहीं होना चाहिए, ये ग़लत है। ये जो जाति भेद है, बहुत ग़लत है। लेकिन शिक्षक, जिनकी ज़िम्मेदारी ये सब काम करने या उस वातावरण को तैयार करने की है, अभी तैयार ही नहीं हैं। साथ ही, बच्चों में आलोचनात्मक विवेक पैदा हो, सृजनशीलता विकसित हो, यह हम चाहते हैं। लेकिन क्या शिक्षक के पास कक्षा में इतना समय और आज़ादी है कि वो कक्षा में इस तरह की गतिविधियों को संचालित कर सके? मेरे ही अनुभव हैं कि जब हम समानता,

जाति या धर्म के सवालों पर बातचीत करते हैं तो शिक्षकों-अभिभावकों के बीच से आवाज़ें उठती हैं कि क्या पढ़ाया जा रहा है? बच्चों को सवाल पूछने को कहते हैं तो उसको लेकर एक अलग तरह का वातावरण बनता है। कहने का तात्पर्य है कि चुनौतियाँ बहुत अधिक हैं, अब समाधान कैसे करें यह सोचने की बात है।

रजनी : इस तरह के मसलों के प्रति दृष्टिकोण और पूर्वाग्रह होते ही हैं। काफ़ी छोटी उम्र से ये बनने लगते हैं। परिवार की सोच का भी प्रभाव होता है। मुझे याद है, मैंने कक्षा 1 में बच्चों को पढ़ाना शुरू किया। समूह में बैठने के लिए कहने पर बच्चों ने कहा कि उनके साथ नहीं बैठ सकते वो तो अण्डा और चिकन खाते हैं। अब प्राथमिक कक्षाओं के बच्चों के साथ इस तरह के विषयों पर बातें नहीं होतीं, जबकि मुझे लगता है ऐसे मुद्दों पर वहाँ भी बात की जा सकती है। जेण्डर या जाति को लेकर चर्चा में कई बार आपको तटस्थ-सा रहना पड़ता है, क्योंकि किसी ख़ास पृष्ठभूमि से कोई बच्चा आ रहा है तो उसकी किस तरह की भाषा है, लोगों को ऐड्रेस करने का किस तरह का तरीक़ा है, इसका ध्यान रखना होगा, कक्षा में चर्चा क्या-क्या चीज़ें ध्यान में रखकर की जाएँ कि वो अलग है लेकिन वो भी धीरे-धीरे एक ही समूह में शामिल हो सकता है।

अरविंद : हम काफ़ी तीखी चीज़ों पर बात कर रहे हैं। डिस्क्रिमिनेशन, जेण्डर और धर्म, किसी भी स्तर पर इन मुद्दों पर चर्चा करना आसान बात नहीं है। हम संवेदनशील हों तब भी। एक बार की बातचीत से सबकुछ समझ में आ जाएगा। ये भी नहीं होगा। लेकिन सम्भावनाएँ हैं। उदाहरण के तौर पर, भूगोल में हम लैंड फ़ॉर्म की, वृक्षों की चर्चा करते हैं। ये ऐसे मसले हैं जो इतने जटिल नहीं हैं। यहाँ बहुत सम्भावनाएँ हैं गतिविधि और चर्चा करवाने की, अच्छे-से समझाने की। वहाँ भी सही शिक्षण हम नहीं करवा पा रहे हैं, क्योंकि अवधारणाओं को आधार बनाकर सोचने का काम बहुत ही सीमित है। कभी-कभी अवधारणा पर बात हो जाती है लेकिन वापस सूचनाओं के ढर्रे पर आ जाते हैं। मसलन, लेंड फ़ॉर्म में नोट कर लो कि यहाँ पहाड़ है, यहाँ पठार है, यहाँ चावल होते हैं। इसमें भी आसपास की ज़मीन को देखना, मिट्टी को, पत्थरों को पहचानना, यह छूट ही जाता है। सूचनाओं को देना और अवधारणाओं को सामने रखना, इस द्वन्द्व से निकलने की ज़रूरत है। दूसरी बात, हम अपने चारों ओर एक जकड़न देखते हैं और उस जकड़न में फँसे हुए महसूस करते हैं कि क्या-क्या करा पाएँगे और किस हद तक। पर मैं शिक्षकों को दोष नहीं देता, क्योंकि दृष्टिकोण बदलने के लिए संवाद की आवश्यकता है। ऐसा इसलिए कि उन्होंने भी ऐसे ही पढ़ा और समझा है। हमने अपनी व्यवस्था में संवाद को सम्भव किया ही नहीं है।



चित्र 5

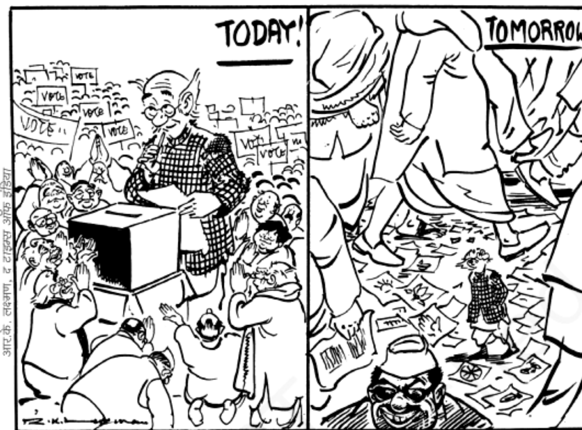
मैं कहूँगा कि जहाँ शिक्षक ख़ुद परीक्षा लेते हैं, या ले सकते हैं, अपने स्तर पर जो कर सकते हैं, करने की कोशिश कीजिए। ये मुश्किल लगता है लेकिन यही उसका एक रास्ता है।

हालाँकि, स्थानीय प्रयासों में फ़र्क़ होगा। मैंने कई शिक्षकों से बात की है। वे कहते हैं, हमें पढ़ाने में मज़ा नहीं आ रहा, पर मजबूरी है तो हम पढ़ा रहे हैं। लेकिन अवधारणा पढ़ाने में किसी को भी आनन्द आता है, क्योंकि उसमें एक मानसिक विश्लेषण की ज़रूरत होती है।

रजनी : भाषा के स्तर पर डिस्क्रिमिनेशन लगभग हर एक कक्षा में होता है। कक्षा 2-3 के बच्चों को पता लग जाता है कि हमें अँग्रेज़ी या हिन्दी में बोलना है। मतलब, वे जानने लगते हैं कि किसी भाषा को ज़्यादा तवज्जो दी जाती है। फिर जो बच्चा इंग्लिश बोलता है वो बच्चा ठीक है। उनके साथ ये बात नहीं की जाती कि अलग-अलग भाषाएँ हैं, और जो बच्चा जो भाषा बोल रहा है वो ठीक है। यह सामाजिक अध्ययन का मुद्दा है। पर इसपर बात नहीं होती।

अरविंद : आप बिलकुल सही कह रही हैं। इसको हम पोलिटिकल साइंस में भी बोलते हैं कि पॉवर रिलेशन या सत्ता का अहसास बच्चों को बहुत जल्दी हो जाता है। उनको अहसास हो जाता है कि कौन सही है कौन नहीं। किसकी बात ज़्यादा रखी जा रही है, और किसको सुनना है। इसको आप मल्टीलिंगुअल क्वालिटी समझाकर कुछ नहीं कर सकेंगे। इसमें आप ख़ुद सभी भाषाओं को एक समान नज़र से देख रहे हैं। इसलिए सबको एक समान प्रोत्साहित करें तो धीरे-धीरे बच्चे समझेंगे कि कोई फ़र्क़ ही नहीं पड़ता। पर व्यवहार में ऐसा है कि अँग्रेज़ी में जवाब देने पर शिक्षक बहुत ख़ुश नज़र आते हैं। और मैं अपनी मातृभाषा में बोलता हूँ, मराठी में बोलता हूँ, छत्तीसगढ़ी में बोलता हूँ, या किसी और भाषा में बोलता हूँ, तो वो थोड़े नाख़ुश लगते हैं, तो ये बिलकुल व्यवहार से ही आएगा।

नवीन : इसमें मैं एक मामला और भी देखता हूँ। और वह यह कि स्कूल किस तरह की संस्कृति निर्मित कर रहा है। संस्कृति से मेरा मतलब है कि स्कूल बच्चों को किस तरह का स्कोप दे रहा है या किस तरह की हाइरार्की डेवलप कर रहा है। इन सब चीज़ों से भी अन्य चीज़ें प्रभावित होती हैं। मसलन, कक्षा में अपनी बातों को रखना, विभिन्न भाषाओं में रखना या फिर एक दूसरे के ख़िलाफ़ विभिन्न नज़रियों को रखना। कई बार मेरे अवलोकन रहे हैं कि जब हम कक्षा में हाइरार्की निर्मित करते हैं और किसी बच्चे को मॉनिटर बना देते हैं, तो हम मॉनिटर ही नहीं बनाते उसको, वो शिक्षकों की तरह व्यवहार करने लगता है, कंट्रोलिंग अथॉरिटी सब बच्चों पर आज़माने लगता है।



चित्र 6

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात सामाजिक अध्ययन के शिक्षक के पेशेवर विकास को लेकर है। मैंने पाया है कि अकसर शिक्षक नई पद्धतियों और खोजों को समझना नहीं चाहते और अपनी समस्या में कोई बदलाव भी नहीं करना चाहते। यह भी हो सकता है कि उनकी पहुँच नहीं है या उनकी रुचि नहीं है जिसके कारण कक्षा की रचना प्रभावित होती है। तीसरी सम्बन्धित चीज़ है कि गतिविधियों या चर्चा करने के लिए भी शिक्षक को सोचना पड़ता है। इसकी कल्पना करने की, समय की ज़रूरत है और कई मामलों

में हमारा सिस्टम इतना केन्द्रीकृत है कि कुछ करने की गुंजाइश ही नहीं है। हम यही मानकर चलते हैं कि जो सामाजिक अध्ययन के पाठ्यक्रम में शामिल है, वही सामाजिक अध्ययन का मूल मुद्दा है। यह हमें कभी भी पाठ्यपुस्तक से आगे बढ़ने का मौक़ा ही नहीं देता जिसमें रोज़मर्रा की घटनाओं और नई तरह की सामग्री, मसलन, समाचार-पत्रों की कतरन, फ़िल्म के अंश या गीत का कक्षा में उपयोग हो। ये सामाजिक अध्ययन में एक गहरी समस्या दिखाई दे रही है।

अरविंद : इस तंत्र में बहुत जकड़न है। यह केन्द्रीकृत है और शिक्षक की ऑटोनोमी एवं परीक्षा का इसपर एक तरह का क़ब्ज़ा है। पर इस परिस्थिति से जूझने की उम्मीद हमें कहाँ-कहाँ नज़र आती है?

नवीन : एक उम्मीद शिक्षकों से ही है। हम कार्यशालाएँ करते हैं, या बातचीत के कई मंच होते हैं, या स्कूल विजिट करते हैं, और इस दौरान शिक्षकों से लम्बी व नियमित बातचीत की तो बदलाव के मौक़े भी दिखे। इसका मतलब है संवाद के मौक़े बढ़ाने होंगे। संवाद के नए व विभिन्न तरीक़ों को खोजना पड़ेगा। शिक्षक साथियों को इन तरीक़ों के प्रति आकर्षित करना पड़ेगा कि बच्चों को विषय-वस्तु से केवल सूचनाएँ ही नहीं बल्कि कुछ नज़रिया भी देना होगा। सामाजिक अध्ययन अपने आसपास के समाज को समझने और उसके विश्लेषण के लिए कौशल एवं टूल्स उपलब्ध कराए। आशा की किरणें दिखती हैं लेकिन पहुँच का भी मसला है।

महेश : मुझे शिक्षकों और ख़ासकर बच्चों से उम्मीद दिखती है। मैंने बच्चों के साथ भी कुछ प्रयोग किए हैं। मसलन, इतिहास में कोई पाठ मैं पढ़ा रहा हूँ, वास्तु-कला पढ़ा रहा हूँ, तब मैंने बच्चों को गाँव की पुरानी इमारतों के बारे में लिखकर लाने को कहा। बच्चे लिखकर लाए और बहुत अच्छी जानकारी इकट्ठी हुई। इसी तरह, उस गाँव को यह नाम कैसे मिला अपने बुज़ुर्गों से पूछो, सरपंच से मिलो, उनके काम के बारे में जानो, तो बच्चों ने बहुत अच्छे-से जानकारी इकट्ठी की। शिक्षक यदि अपने पढ़ाने के तरीक़े में बदलाव करें, समाज में जो हो रहा है, उसे जोड़कर उदाहरण प्रस्तुत करें और अपने-आप को नेशनल, इंटरनेशनल और स्थानीय स्तर पर भी अपडेट रखें तो मुझे उम्मीद दिखती है। शिक्षक और बच्चों के माध्यम से हम ये सब कर सकते हैं।

रजनी : दीपकजी, आप भी कुछ कहना चाह रहे थे?

दीपक : इसमें कोई दो राय नहीं कि हम जो शिक्षा पर काम कर रहे लोग हैं उनमें शिक्षक हैं और छात्र हैं, तो उम्मीदें यहीं से करनी होंगी। लेकिन कई बार जब हम संविधान, उसकी प्रस्तावना और संवैधानिक मूल्यों पर कोई संवाद कर रहे होते हैं तो शिक्षक साथियों से ही यह भी सुनने को मिलता है कि आप लोग हमें नक्सली बना रहे हैं। दूसरी चीज़ यह है कि जहाँ तक मैं समझता हूँ सामाजिक अध्ययन के विषय अन्ततोगत्वा हमें मनुष्यता से जुड़ने के लिए अपनी ओर आमंत्रित करते हैं और उसकी तरफ़ जाने के लिए छात्रों के बीच काम करने के भी बहुत सारे तरीक़े हो सकते हैं। हालाँकि, जाति, धर्म, साम्प्रदायिकता, रूढ़ि या बहुत सारी सामाजिक बुराइयों जैसे असुविधाजनक सवाल निश्चित रूप से सामाजिक अध्ययन के अन्तर्गत ही आएँगे। भले ही वो हमारे पाठ्यक्रम में हों या नहीं, समाज में वे हैं ही। इसलिए सोचना



चित्र 7

होगा कि उनपर बातचीत कैसे हो? लेकिन हमने सामाजिक अध्ययन के विषयों को थोड़ा कमतर महत्त्व दिया है और तोता रटन्त ही माना है। दूसरा, मानविकी से जुड़े सारे विषय पढ़ने वाले जो विद्यार्थी हैं वो मान जाते हैं कि वे कम बुद्धिमान और कम होशियार हैं, लेकिन जो इंजीनियरिंग और इस तरह के विषय पढ़ने वाले हैं वे ज़्यादा अच्छे और तेज़ विद्यार्थी होते हैं, ऐसी धारणा है। सामाजिक अध्ययन को लड़कों के पढ़ने की अपेक्षा लड़कियों के पढ़ने की चीज़ अधिक मान लिया गया। ये भी मान लिया गया कि चूँकि लड़कियों के पास समझ कम होती है और इसमें समझना कुछ नहीं होता है। इसमें तो बस रटना होता है, अत: ये लड़कियों के लिए ज़्यादा अच्छा विषय है। लड़के तो विज्ञान, गणित और अँग्रेज़ी जैसे विषय पढ़ते हैं, इस तरह इसमें मुझे एक लैंगिक भेदभाव भी दिखा।

सामाजिक अध्ययन में अनुभवों का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वे पीढ़ी-दर-पीढ़ी संचित होते हैं। अनुभवों से हम आसानी से अनुमान की तरफ़ जा सकते हैं। रटना एक तात्कालिक कौशल है, और इससे हम अनुमान की तरफ़ नहीं जा सकते। जब अनुमान की तरफ़ नहीं जाते तो सामाजिक अध्ययन को समझने के सबसे ज़रूरी कौशल को मिस कर रहे होते हैं। मसलन, हम ऐसे प्रश्नों पर बात नहीं करते कि लोग क्या खाते हैं? क्या पोशाक पहनते हैं? कैसे रहते होंगे? कैसे जीते होंगे? गाँव कैसे बसे होंगे? त्योहार-पर्व क्या होता है? हम लोगों ने इतिहास को एक टेलीफ़ोन डायरेक्टरी बनाकर रख दिया। ये बदलाव रटने से नहीं हो सकता, यह संवाद से हो सकता है। हमें वैचारिक और मानसिक रूप से तैयार होना होगा कि अगर हम सामाजिक अध्ययन के विषयों पर बात कर रहे हैं तो इस तरह के असुविधाजनक सवाल टकराएँगे ही।

महेश : ऐसा नहीं है कि बिलकुल ही अँधेरा है। उत्तराखंड में बहुत सारे विद्यालयों में सामाजिक अध्ययन पर केन्द्रित दीवार पत्रिकाएँ बच्चों के द्वारा तैयार की जा रही हैं। गाँव में जाकर बच्चों के द्वारा सर्वेक्षण करना, साक्षात्कार लेना, ऐसी गतिविधियाँ भी बच्चे कर रहे हैं। एक पाठ है 'खाद्य सुरक्षा', उसमें मेरे विद्यालय के बच्चे पाठ से पहले गाँव में जाकर सार्वजनिक वितरण प्रणाली में कंट्रोल की दुकान चलाने वाले लोगों का साक्षात्कार लेते हैं। साक्षात्कार से पहले वे प्रश्न भी तैयार करते हैं। जब बच्चे उनसे बातचीत करके लौटते हैं, तब कक्षा में पाठ पढ़ाया जाता है। इस तरह, बच्चों के पास बहुत सारी सूचनाएँ, बहुत सारी जानकारियाँ पहले से होती हैं और चुनौतियाँ भी उनको पता होती हैं। प्रश्नों की प्रकृति में भी कुछ बदलाव की कोशिश है। मसलन, कल्पना कीजिए कि दांडी मार्च के दौरान आप गाँधीजी के साथ थे, या उस दौर में आप गाँधीजी के साथ थे तो आपने क्या-क्या देखा, क्या-क्या हुआ, कितने लोगों से बातचीत हुई। इसी तरह से एक और प्रश्न है कि आप एक ऐसे परिवार के बच्चे थे जो गिरमिटिया मज़दूरों से जुड़ा था, उनकी क्या और किस तरह की परिस्थितियाँ रही होंगी, कल्पना करते हुए



चित्र 8

लिखिए। ऐसे ही बच्चों के ही द्वारा एक संविधान का निर्माण कराया जा रहा है कि आपका एक बाल विकास संगठन है, उसका एक संविधान तैयार करना है। पूरी संविधान सभा बनाई जा रही है। बच्चों की अलग-अलग कमेटियाँ बनाई जा रही हैं। बच्चे उस पूरी प्रक्रिया को करते हुए सीख रहे हैं कि संविधान की आवश्यकता क्यों पड़ी होगी, क्यों पड़ती है। वे सामाजिक अध्ययन जैसे विषय को एक नए तरीक़े से समझ रहे हैं लेकिन बहुत कम संख्या में। इस संख्या को बढ़ाने की आवश्यकता है। परीक्षा प्रणाली को, प्रशिक्षणों के स्तर को, ठीक करने की ज़रूरत है और शिक्षकों की धारणाओं को लेकर काम करने की आवश्यकता है।

अरविंद : आप लोग सामाजिक अध्ययन के विषय को पहचानते हैं, और उसकी बारीक़ियों को समझते हैं। आप ख़ासकर ये भी समझ रहे हैं कि ये विषय अपने-आप में सिद्धान्त पर आधारित है। इसमें अवधारणाएँ हैं, प्रमाण हैं, और लॉजिक भी। इसके साथ, हमारे विचार हो सकते हैं और उन विचारों में भिन्नता हो सकती है, इसको भी हम स्वीकारते हैं। सबसे बड़ी बाधा इस बात की आती है कि हमारे आसपास की सोच में इस विषय को जनरल नॉलेज के रूप में देखा जाता है और परीक्षा भी उसी अनुरूप पूछी जाती है। दूसरी बाधा यह कि इसको एक नेशन बिल्डिंग के रूप में देखा जाता है। इसमें भी, वर्तमान राजनीति में जो हो रहा है, वह ज़्यादा हावी होता है क्योंकि सरकार की आलोचना नहीं कर सकते हैं। ये बाधाएँ सांस्कृतिक हैं। शिक्षकों को कभी भी इनपर संवाद करने का मौक़ा नहीं मिला और जहाँ मिला है, वहाँ बदलाव आया है। शिक्षक के स्तर पर तो उम्मीदें दिख भी रही हैं, लेकिन सिस्टमिक लेवल पर उम्मीदें कम ही हैं। शायद कभी आगे के विषय के लिए रख सकते हैं कि सिस्टमिक लेवल पर, चाहे परीक्षा में हो, ट्रेनिंग में हो, एससीईआरटी लेवल या ब्लॉक लेवल पर क्या बदलाव की गुंजाइश दिख रही है।

रजनी : आप सभी लोगों का इस संवाद में शामिल होने के लिए शुक्रिया।

- चित्र 3, 7 एवं 8 एकलव्य, भोपाल द्वारा प्रकाशित किताब *शिक्षा और आधुनिकता : कुछ समाज शास्त्रीय नज़रिए* से साभार
- चित्र 1, 2 एवं 5 एनसीईआरटी, नई दिल्ली से प्रकाशित किताब *सामाजिक विज्ञान, सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन-1* से साभार
- चित्र 6 एनसीईआरटी, नई दिल्ली से प्रकाशित किताब *सामाजिक विज्ञान, लोकतांत्रिक राजनीति-1* से साभार
- चित्र 4 एनसीईआरटी, नई दिल्ली से प्रकाशित किताब *सामाजिक विज्ञान, लोकतांत्रिक राजनीति-2* से साभार